

मातृभाषा माध्यम का हास

□ रामकुमार कृषक

विमर्श जैसे उद्गम को लेकर इस पत्र की शुरुआत कैसे करूं, यही सोचता रहा हूँ। इधर सोच ही सोच तो बाकी रह गया है - निष्क्रिय सोच, बेरोजगारी के गहरे दलदल में फंसा।

इधर 'विमर्श' पर रायजनी के लिए एक प्रारूप भी मिला। इससे पत्रिका के 4-5 अंक पाकर भी अपनी राय न भेज पाने की शर्मिंदगी और अधिक बढ़ गई। साथ ही यह भी लगा कि पाठकों को आप यों ही सस्ते में नहीं छोड़ने वाले। दूसरे शब्दों में, 'विमर्श' को लेकर आपकी जो प्रतिबद्धताएं और चिंताएं हैं, उसमें पाठकों को भी शामिल करने के लिए बाजिद हैं आप लोग।

मैं इस साथीपन की कद्र करता हूँ मेरे भाई।

'विमर्श' के बहुत सारे तरो-ताजा स्तम्भ पढ़ते हुए एक तो अपने प्राइमरी से लेकर मिडिल तक के स्कूल याद आते रहे। साथ ही यह भी याद आता रहा कि अरे, नाक बहने से पेशाब निकलने तक की वे तमाम-तमाम घटनाएं भी हमारे शैक्षिक विमर्श का हिस्सा बनने वाली थीं। कई संस्मरण तो बड़े भंयकर हैं उन दिनों के, कुछ-कुछ अश्लील भी, जबकि उन दिनों वे सिर्फ कौतुक जैसे ही थे। यह अलग बात है कि कई मास्साहबों को सबक सिखाने की भावना भी उनके पीछे रही हो। लेकिन शिक्षा की वह अशिक्षित दुनिया अब कहां रही। अब तो कान्वेंटी एजूकेशन का बोलबाला है, स्कूलों के व्यवसायीकरण, बच्चों के आंग्ल सैनिकीकरण का दौर।

आपकी संकल्पना, परिकल्पना प्रशंसनीय है, प्रेरक और अनुकरणीय भी। पांचों अंकों में मौजूद विविध सामग्री इसका प्रमाण है। हमारी शिक्षण प्रविधि के बड़े-बड़े जानकारों, विशेषज्ञों का विश्वस्तरीय चिंतन, उनकी चिंताएं, क्या कुछ नहीं कर देने वाली, लेकिन कर देने का यह सवाल ही बुनियादी सवाल है, जैसे कि मैंने अपने संदर्भ में शुरु में ही कहा - निष्क्रिय चिंतन।

तमाम चीजों की तरह, शिक्षा भी शुरु से ही मैकाले के पूर्व भी अगर आप जाएं तो, गुरुकुलों तक -सामंती फिर बुर्जुवा वर्ग के नियंत्रण में रही है। श्रम संस्कृति से सदा ही उसने एक दूरी बनाकर रखी। फिर वह चाहे घर में आठों पहर खटने वाली स्त्री थी या किसान या मजदूर। और स्थिति आज भी कोई बेहतर नहीं

हैं, ग्लोबलाइजेशन और इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने की महान तैयारियों के बावजूद सार्वजनिक या सरकारी शिक्षा व्यवस्था के निरंतर सिकुड़ते जाने के परिणामास्वरूप नवधनाढ्य बूर्जवाजी ने आज प्रायः निजी शिक्षा संस्थानों के रूप में जो विराट तंत्र खड़ा कर लिया है और जो हमारी श्रमशील जनता को उसी के पसीने और लहू में डुबोकर मार डालने की अमानवीय असंस्कृत लुटेरी सामाजिकता को जन्म दे रहा है, उसे रोकने और खत्म करने में हमारा बौद्धिक विमर्श किस हद तक, किस तरह कारगर होगा, यह भी सोचा जाना चाहिए।

लगता है जैसे हमारा आज एक फौलादी चौखटे में जड़ दिया गया है। इसे कैसे तोड़ा जाय? सुधार का मैं विरोधी नहीं, पर सुधारवाद से सहमत नहीं हो पाता। अब इस व्यवस्था के स्थायित्व के बावजूद शिक्षा की कोई वैकल्पिक व्यवस्था कैसे खड़ी की जा सकती है? यह सवाल है। इसका जवाब या जवाब की संभावना तब हो सकती है जबकि एक वैकल्पिक राजनीतिक बदलाव की भी कारगर कोशिशें हो रही हों। हो रही हैं, पर उनका चरित्र भी या तो समझौतावादी है या व्यक्तिवादी है। पार्टियां और मार्क्सवादी पार्टियां या तो आपसी वर्चस्ववादी मारकाट में लगी हैं, या एक-एक कामरेड के कंधे पर पड़े थैले में झूल रही हैं।

भाषा का सवाल, माध्यम का सवाल अंग्रेजी के चलते जैसे आज एकदम गैरजरूरी हो गया है। 'राष्ट्रभाषा' का तो इस संदर्भ में जिक्र करना ही गुनाह है, पर राष्ट्रीय भाषाएं भी कहां है? जन-जीवन में बोलने भर का या मनोरंजन करने वाला रिश्ता ही बचा रह गया है उनसे। बच्चों पर, अभिभावकों पर, अंग्रेजी का आतंक जारी है। पालना छोड़ते ही अंग्रेजी के आकाश में उछाल दिया जाता है बच्चों को। शैक्षिक ही नहीं, साहित्यिक - सांस्कृतिक संगठनों, संस्थानों के नाम तक अंग्रेजी में रखने का चलन बढ़ता रहा है; और यह पूरे देश में है, हिंदी क्षेत्र में सर्वाधिक। हम देश विदेश में व्याप्त प्रभावी वर्ग द्वारा नियंत्रित राजनीतिक और आर्थिक गुलामी के साथ-साथ सांस्कृतिक गुलामी की ओर बढ़ रहे हैं। और अंग्रेजी इसका सबसे सहज सबसे कारगर हथियार बनी हुई है। विमर्श इसके विरुद्ध होना चाहिए। भाषा सिर्फ माध्यम ही नहीं है, वह एक जीवन-संस्कार है। उसकी अपनी एक सामाजिकता है।

अंग्रेजी इस देश के नौनिहालों को उनकी जड़ों से उखाड़ रही है। नर्सरी में तैयार पौधों से सिर्फ गमलों को सजाया जा सकता है, खेतों में फसलें नहीं उगाई जा सकती। यह दुनिया एक हो पर एक-सी न हो, यह सावधानी और विवेक चाहिए। अंग्रेजी विश्व-साम्राज्यवाद का व्यावसायिक हथियार बनी हुई है इन दिनों। ज्ञान विज्ञान की आड़ में गुलामी के गर्त में धकेल रही है वह हमें। जब तक उसे सत्ता का सहारा है और हमें उसका, तब तक भारतीय भाषाएं, जनता की भाषाएं निरंतर अविकसित और अक्षम ही बनी रहेंगी। शिक्षा के अंग्रेजीपरस्त परिवेश और ढांचे को आमूल बदले जाने की आवश्यकता सर्वोपरि है।

कौन बदलेगा इसे ?

जनता ।

जनता कहां है ?

उसे खोजना होगा बल्कि इसके लिए तैयार करना होगा।

भाई, मैं समझ नहीं पा रहा कि मैं क्या लिखूं ? पत्रिका में आपकी जो मूल्यवान सामग्री है, उसका, व्यावहारिकता से आए चिंतन का अपना महत्व है पर चिंतन से भी व्यावहारिकता का जन्म होगा, ऐसी आशा ही की जा सकती है।

बौद्धिक बोझिलता 'विमर्श' में कुछ ज्यादा है। आंकड़े बहुत हैं, वे भी यूरोपीय। ये कुछ कम हों, अपने लोगों के हों। शायरी, संस्मरण, शब्दचित्रों के माध्यम से ऐसा आप कर भी रहे हैं, कविताएं-कहानियां भी है। यों 'विमर्श' है तो तंग तो करेगा ही।

बेटियां पढ़ रहीं हैं अंकों को। दोनों प्राइमरी स्कूल में टीचर हैं। आशा है, कुछ नया पा सकेंगी वे।◆